P: ISSN NO.: 2321-290X RNI : UPBIL/2013/55327 VOL-6* ISSUE-4*(Part-2) December- 2018
E: ISSN NO.: 2349-980X **Shrinkhla Ek Shodhparak Vaicharik Patrika**

दिल्ली के हिन्दी प्रायोगिक रंगमंच में पारम्परिक एवं लोक शैलियों का उपयोग

महेंद्र कुमार
प्रोफेसर एमेरिटस ,
डिर्पाटमेंट ऑफ इण्डियन थियेटर,
पंजाब यूनिवर्सिटी,
चण्डीगढ, भारत

प्रमोद कुमार
शोधार्थी,
डिर्पाटमेंट ऑफ इण्डियन थियेटर,
पंजाब यूनिवर्सिटी,
चण्डीगढ, भारत

सारांश

दिल्ली के हिन्दी रंगमंच में निरन्तर पारम्परिक एवं लोक शैलियों का उपयोग होता रहा है। दिल्ली की अपनी कोई पारम्परिक एवं लोक परम्परा नहीं रही हैं, जिसके कारण अन्य राज्यों के लोकनाट्य जैसे गुजरात का भवई, उत्तर प्रदेश का नौटंकी, बिहार का बिदेसिया, कर्नाटक का यक्षगान तथा महाराष्ट्र का लावणी का उपयोग यहाँ के नाटकों में खूब हुआ है। सही अर्थों में अस्सी के दशक से इस प्रयोग को गति प्राप्त हुयी। अगर कहा जाये कि पारम्परिक एवं लोक शैलियों से सज्जित नाट्य प्रस्तुतियों को दर्शकों ने यथार्थवादी रंगमंच की अपेक्षा अधिक पसन्द किया है तो ये असत्य न होगा। शहरी रंगमंच में भारत की लोक कलाओं का उपयोग, रंगमंच को एक प्रायोगिक दृष्टिकोण और ऊर्जा प्रदान करता है। पारम्परिक एवं लोक शैलियों का उपयोग जहाँ नाट्य प्रस्तुति को रोचक बनाता हैं वहीं इन कलाओं से अनजान दर्शकों का उनसे परिचय भी करता है। आधुनिक हिंदी रंगमंच में नाट्य प्रस्तुतियों की यथार्थवादी रचना प्रक्रिया से ऊब महसूस कर रहे दर्शकों के लिये पारम्परिक एवं लोक शैलियों से युक्त प्रस्तुतियाँ संजीवनी का कार्य कर रही हैं। इस शोध पत्र में दिल्ली के हिन्दी प्रायोगिक रंगमंच में पारम्परिक एवं लोक शैलियों के उपयोग को प्रस्तुत किया है।

मुख्य शब्द : दिल्ली का हिंदी रंगमंच, कलात्मक प्रयोग, पारम्परिक एवं लोक शैलियों के तत्वों का उपयोग।

प्रस्तावना

हिन्दी रंगमंच हमारा राष्ट्रीय रंगमंच है। देश का प्रत्येक रंगकर्मी चाहें वो किसी भी राज्य का हो, दिल्ली के हिंदी रंगमंच के संपर्क में अवश्य है। अन्य राज्यों के रंगकर्मी अपने–अपने राज्यों की पारम्परिक एवं लोक शैलियों का उपयोग दिल्ली की प्रस्तुतियों में करते हैं। इस प्रकार लोक संस्कृति का आदान–प्रदान, दिल्ली के रंगमंच को संपन्न कर रहा है तथा दिल्ली के दर्शकों को रंगमंच कला के नये दृष्टिकोंण से परिचित करा रहा है। ये आज की आवश्यकता भी है कि हम अपनी लुप्त हो रही पारम्परिक और लोक कलाओं को जाने और समझें। सर्वप्रथम हिन्दी रंगमंच का विश्लेषण कर ये पाया कि आज के इस आधुनिक युग में जहाँ व्यक्ति अपनी संस्कृति और परम्पराओं से विमुख हो रहा है, वहीं ये प्रयोग दर्शकों को अपनी जड़ों की ओर वापस लौटने का आग्रह कर रहा है।

अध्ययन का उद्देश्य

प्रस्तुत शोध में दिल्ली के हिन्दी प्रायोगिक रंगमंच में पारम्परिक एवं लोक शैलियों के उपयोग का सैद्धांतिक एवं प्रयोगात्मक पक्ष का विश्लेषण कर शोधार्थी ने मन और मस्तिष्क में विचारों के सामंजस्य के आधार पर शोध पत्र की अवधारणा और उद्देश्य को स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

हिंदी रंगमंच में पारम्परिक एवं लोक कलाओं का उपयोग

रंगमंच हमारे समाज का आईना है तथा देश और काल की घटनाओं की कलात्मक एवं रचनात्मक अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम भी। समाज एक ऐसी व्यवस्था है जहाँ सामाजिक मूल्यों में हो रहे बदलाव मंच पर प्रस्तुतियों में दिखाई देते हैं। यही बदलाव मंच पर प्रयोग करने को प्रेरित भी करते है। रंगमंच में प्रयोग, वास्तविक रूप में हर युग की एक अनिवार्य आवश्यकता है। इसीलिये रंगमंच और प्रयोग का संबंध बहुत ही घनिष्ठ और निर्विवाद है। भारतीय नाट्याचार्य भरतमुनि द्वारा नाट्यशास्त्र को पंचमवेद की संज्ञा देना, इस बात की पुष्टि है कि नाट्यशास्त्र स्वयं में एक सर्वोत्कृष्ट प्रयोग है। पंचमवेद के संबंध में नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में ये वर्णन प्राप्त होता है:

"जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।

यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादयि।"[1]

बह्मा जी ने ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस ग्रहण कर नाट्यवेद की सृष्टि की। इस आधार पर नाट्यशास्त्र की रचना स्वयं में ही एक प्रयोग है। इस नाट्य ग्रंथ में सम्पूर्ण नाट्य कार्य व्यापार की विस्तृत व्याख्या की गई है।

जिस प्रकार रंगमंच शब्द का अर्थ स्वयं में बहुत व्यापक है उसी प्रकार रंगमंच में प्रयोग शब्द का उपयोग भी अत्यंत ही व्यापक है। रंगमंच में प्रयोग किसी भी तत्व में हो सकता है। दिल्ली के हिन्दी रंगमंच में प्रयोग के रूप में पारम्परिक एवं लोक शैलियों का ख़ूब उपयोग किया गया। नाट्यधर्मी और लोकधर्मी रंगमंच के अनोखे संयोजन ने हिंदी रंगमंच के समक्ष एक नयी नाट्य शैली को जन्म दिया। जो नाट्यधर्मी और लोकधर्मी का मिश्रित रूप थी। साठ के दशक के आरम्भिक दौर में जब दिल्ली में रंगमंच नवचेतना के साथ आरम्भ हुआ, तब नाटकों की प्रस्तुति में यथार्थवादी शैली का चलन अधिक था। इस दशक में 'आधे अधूरे', 'आषाढ़ का एक दिन', 'तुग़लक', 'होरी', 'आगरा बाज़ार' आदि प्रसिद्ध नाटकों के मंचन यथार्थवादी अभिनय शैली के लिये बहुत प्रसिद्ध हुए। यथार्थवादी शैली में अभिनय के दौरान अभिनेता अपने अभिनय को वास्तविक जीवन के इतने अधिक नज़दीक ले जाते हैं, कि मानो वो अभिनय न होकर सत्य हो। मंच पर जीवंत अभिनय को देखकर दर्शकगण उसमें लीन हो जाते हैं। उनकों मंच पर घट रहीं घटनायें सच लगने लगती हैं। लगभग एक दशक (1960–70) तक दिल्ली की प्रस्तुतियों में यथार्थवादी शैली का चलन अधिक रहा। दर्शकों के समक्ष कुछ नया करने के उद्देश्य से रंग–प्रयोगकर्ताओं द्वारा सातवें और आठवें दशक में नाटक के प्रस्तुतिकरण में यथार्थवादी शैली के उपयोग के स्थान पर, लोक नाट्यों का सम्पूर्ण अथवा उसके आंशिक तत्वों का उपयोग करने की जो शुरूआत हुई, वो एक विलक्ष्ण प्रयोग था। आधुनिक हिन्दी समसामयिक रंगमंच में भारत के विभिन्न राज्यों के लोक नाट्यों अथवा पारम्परिक शैलियों का उपयोग रंगमंच में एक नयी ऊर्जा बन कर उभरा।

भारत एक संस्कृति प्रधान देश है। यहाँ की लोक संस्कृति के संबंध में जो सबसे खास बात है, वो है 'विभिन्नता में एकता'। विभिन्न राज्यों की विभिन्न भाषायें और लोक संस्कृति भारतवासियों के लिये सदैव आकर्षण का बिन्दु रहीं हैं। संस्कृति प्रधान देश होने के नाते यहाँ के वासियों में अपनी संस्कृति और परम्पराओं के प्रति विशेष लगाव भी देखने को मिलता है। शायद ये अपनी संस्कृति और परम्पराओं के प्रति लगाव ही है जो वर्षों पुरानी लोक नाट्य परम्परायें आज भी जीवित हैं। हिन्दी नाटकों में शास्त्रीय एवं पारम्परिक लोक नाट्य शैलियों के उपयोग की जो शुरूआत साठ के दशक में हुई, उसे दर्शकों ने खूब सराहा। प्रसिद्ध भारतीय हिंदी साहित्यकार अशोक वाजपेई ने इस संदर्भ में कहा है। 'भारतीय रंगमंच में जो क्रांतिकारी परिवर्तन पिछले तीन–चार दशक में हुए उनमें से एक रंगमंच का यथार्थवाद की जकड़बन्दी से मुक्त होना रहा है। देर से सही, यह समझ में आया कि यथार्थवाद यथार्थ को विन्यस्त करने की एक युक्ति भर है, कि यथार्थ अन्य युक्तियों से भी खोजा व्यक्त किया जा सकता है, कि यथार्थ का यथार्थ पर विशेषाधिकार नहीं है। इस युक्ति ने ही अलग–अलग तरह से शम्भु मित्र और हबीब तनवीर, इब्राहिम अल्काज़ी और ब0 व0 कारन्त, कोवलम नारायण पणिक्कर और रतन थियम, बादल सरकार और विजया मेहता के रंगमंच संभव किये। इस युक्ति ने रंगमंच को अनेक जातीय और लोक परम्पराओं के पुनराविष्कार की ओर भी प्रेरित किया। इस बहुल रंगमंच ने सामाजिक और निजी यथार्थ को भारतीय संदर्भ में, भरे–पूरेपन से संगीत और नृत्य तथा ललित कलाओं के तत्वों का कल्पनाशील प्रयोग करते हुए प्रस्तुत करने में सफ़लता पायी।'[2] नाटक में लोक कलाओं का उपयोग करने वाले ये रंगनिर्देशक भले ही अन्य राज्यों में अपना रंगकर्म कर रहे थे, परन्तु उनके कार्य से दिल्ली प्रभावित अवश्य हुई। दिल्ली में हुई इनकी प्रस्तुतियों ने हिन्दी नाटकों के प्रस्तुतिकरण के लिये नये मार्गों की तलाश की। भारत की लोक कलायें भारतवासियों की अपनी संस्कृति है। इन कलाओं का जन्म मानव जीवन के मध्य लोक परिवेश में ही हुआ है इसीलिये मानव का लगाव अपनी संस्कृति से अधिक होता है। हालांकि शहरी दर्शक अपनी परम्परा और लोक कलाओं से लगभग अनजान से हैं, परन्तु हम अपनी पारम्परिक कलाओं को रंगमंच से जोड़ कर दर्शकों को भी लोक कला से जोड़ सकते हैं इस संदर्भ में नेमिचन्द्र जैन जी कहते हैं कि 'आज हम अपने रंग–कार्य में पारम्परिक नाट्यों का सहारा लेकर शहरी और ग्रामीण रंगमंच की इस खाई को धीरे–धीरे कम करके पाट सकते हैं।'[3] नाट्य प्रस्तुति परिकल्पना में इन लोक कलाओं के तत्वों का उपयोग, दर्शकों को प्रस्तुति के और अधिक नज़दीक ले जाता है। उनको अपनी संस्कृति की याद दिलाता है। परन्तु दिल्ली पारम्परिक एवं लोक कला के संबंध में बहुत ही अभागा है, क्योंकि दिल्ली की अपनी कोई संस्कृति और लोक नाट्य परम्परा नहीं है। अपनी संस्कृति के अभाव में यहाँ अन्य राज्यों के लोकनाट्यों जैसे गुजरात का भवई, महाराष्ट्र का तमाशा, कर्नाटक का यक्षगान, उड़ीसा का छाऊ, बिहार का बिदेसिया, उत्तर प्रदेश का नौटंकी और ख्याल, आदि का हिन्दी नाटकों में खूब उपयोग हुआ।

दिल्ली में इन प्रयोगों की शुरूआत सन् 1968 में गुजरात की लोककथा पर आधारित हिन्दी लोक नाटक 'जसमा ओडन' (1982 में पुनः मंचित) के मंचन के साथ हो चुकी थी, मगर इस प्रकार के प्रयोगों को गति एवं प्रसिद्धि सत्तर के दशक से ही मिलनी आरम्भ हुई। इस नाटक का लेखन एवं निर्देशन शांता गांधी ने किया था। इस नाटक का आलेख गुजरात की एक लोक–कथा पर आधारित है, जिसमें गुजरात के लोक नाट्य भवई का उपयोग किया गया है। नाटक में गीत–संगीत तथा नृत्य भवई शैली में ही था। उस समय जब यथार्थवादी नाटकों के मंचन का दौर चल रहा था, तब एक ऐसा नाटक करने का साहस अपने आप में किसी प्रयोग से कम नहीं था। इस नवीन प्रयोग में दो प्रकार के नाट्य प्रदर्शन दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत हुए, पहले वो जिनका सम्पूर्ण आलेख एवं प्रस्तुतिकरण विशेष तौर से किसी लोक–नाट्य शैली में

तैयार किया गया था, दूसरे को जिनमें लोक तत्वों का आंशिक उपयोग किया गया था। ये निर्देशक के ऊपर निर्भर करता है, कि वो नाटक के आलेख को किस प्रकार से मंचन के लिये तैयार करता है। किसी विशेष लोक–नाट्य शैली में नाटक मंचन करने के लिये निर्देशक को नाट्यालेख में भी परिवर्तन करना आवश्यक होता हैं। यदि नाटक लोक शैली में लिखा गया है तब तो ठीक है, अन्यथा आलेख में लोक–नाट्य तत्वों का समावेश कर संपादन किया जाता है। उसके बाद उसके प्रस्तुतिकरण में भी लोक–नाट्य शैली में ही संवाद अदायगी, संगीत, नृत्य आदि को समावेशित किया जाता है। कर्नाटक के रंगनिर्देशक एवं रंग–संगीत के लिये प्रसिद्व बी0 वी0 कारंत ने दिशांतर नाट्य संस्था के साथ सन् 1972 में नाटक 'हयबदन' (ले0ः गिरिश कर्नाड, अनु0ः ब0 व0 कारन्त, गीतः सर्वेश्वर दयाल सक्सेना) में कर्नाटक के यक्षगान के लोक तत्वों का उपयोग किया। हालांकि नाटक के आलेख में यक्षगान का उपयोग करने की कोई बाध्यता नहीं है, परन्तु निर्देशक ने अभिनेताओं के प्रवेश एवं प्रस्थान में तथा शारीरिक गतियों में आंशिक रूप से यक्षगान के तत्वों का उपयोग कर एक नया प्रयोग किया। ये नाटक पूर्ण रूप से यक्षगान शैली में नहीं था। नाटक के कथ्य में इस लोक नाट्य के उपयोग की संभावना थी, जिसको निर्देशक ने मंच पर प्रस्तुत किया। एक अन्य प्रयोग के अन्तर्गत बी0 वी0 कारन्त ने पाश्चात्य् नाटक 'मैकबेथ' (विलियम शेक्सपियर) को यक्षगान शैली में अनुदित कराया। ये रूपांतरण 'वरनम वन' नाम से रंगेय राघव द्वारा किया गया है। जिसके आलेख में उन्होने यक्षगान के तत्वों को समावेशित किया है। वरनम वन का मंचन सन् 1979 में दिल्ली में हुआ। इस तरह की प्रस्तुतियों में एक खास बात जो निकल कर सामने आयी वो ये, कि अधिकांश निर्देशक अपने क्षेत्र के लोक तत्वों का ही उपयोग करते रहे है, क्योंकि वो अपने क्षेत्र की संस्कृति और लोक परम्पराओं से भली–भांति परिचित होते हैं। जैसे ब0 व0 कारन्त स्वयं कर्नाटक से थे, शायद इसीलिये उन्होंने यक्षगान को चुना। महाराष्ट्र से दिल्ली आयी निर्देशिका ऊषा बैनर्जी ने 'सैंया भये कोतवाल' (ले0ः वसंत सबनीस, अनु0 ऊषा वैनर्जी) में तमाशा और लावणी का उपयोग किया। नाटक के आलेख में भी लावणी गीतों को लिखा गया है। नाटक की नायिका मैना इन गीतों पर लावणी नृत्य भी करती है। नाटक में पूर्वरंग का दृश्य तमाशा शैली में लिखा गया है, और उसी अंदाज में मंचित भी किया जाता है। ये नाटक मूर्ख राजा द्वारा संचालित निष्क्रिय और भ्रष्ट शासन व्यवस्था पर तीखा कटाक्ष है। नाटक का कथ्य एक लोक–कथा के समान है, जो हास्य एवं मनोरंजन से भरपूर है। नाटक में लावणी नृत्य एवं गीत, नाटक को लोकतत्वों से जोड़ते हैं। इस प्रकार मय कहानी, पूरा कथ्य लोक तत्वों से भरा पड़ा है। इस नाटक के प्रदर्शन को दर्शक आज भी खूब पसन्द करते हैं।

सन् 1973 में दिल्ली में सक्रिय रंगनिर्देशक राजिंदर नाथ ने अपनी नाट्यसंस्था अभियान के साथ 'घासीराम कोतवाल' (विजय तेंडुलकर, अनु0 वसंत देव) नाटक का मंचन किया। नाटक मूल रूप से मराठी होने के कारण, इसके गीतों को लावणी शैली में लिखा गया है। नाटक में लोक तत्व पहले से ही मौजूद है इसलिये निर्देशक ने संगीत निर्देशक के माध्यम से उन्हे लावणी में संगीतबद्ध करवा, मंच पर प्रस्तुत किया। इस नाटक के प्रदर्शन को दर्शकों ने इतना सराहा, कि बाद में ये नाटक राजिंदर नाथ के ही निर्देशन में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय रंगमंडल के कलाकारों के साथ भी खेला गया। ये नाटक दिल्ली के उन सर्वश्रेष्ठ नाटकों में शामिल है, जिसके प्रदर्शन आज भी हो रहे हैं और दर्शकों के बीच अपनी लोकप्रियता बनाये हुए हैं। नाटकों में पारम्परिक एवं लोक तत्वों के उपयोग की जब बात चलती है, तब हबीब तनवीर का ज़िक्र होना लाज़मी हो जाता है। छत्तीसगढ़ के रहने वाले हबीब तनवीर ने आरम्भ में अपना रंग–कार्यक्षेत्र दिल्ली को बनाया था। बाद में वो छत्तीसगढ़ में सक्रिय हुए। उन्होने अपने नाट्य दल **नया थियेटर** के साथ दिल्ली में बहुत सारे नाट्य प्रर्दशन किये। जिनमें 'आगरा बाज़ार' (सन् 1954), 'चरनदास चोर' (सन् 1975), 'बहादुर क्लारिन' (सन् 1978), 'माटी की गाडी' (सन् 1958) प्रमुख है। लोक गीत–संगीत इनके नाटकों का महत्वपूर्ण हिस्सा होते थे। प्रसिद्ध रंग–संगीतकार पंचानन पाठक कहते हैं कि 'लगभग चालीस वर्ष पूर्व रंगकर्मियों को ऐसा महसूस होने लगा कि नाटकों में गीत और नृत्य शामिल होने चाहिए। इस संबंध में दिल्ली में साठ के दशक में टोटल थियेटर पर सेमिनार भी हुए हबीब तनवीर ने अपनी सभी नाट्य प्रस्तुतियों को संगीतमय बनाया है। 'आगरा बाज़ार', 'चरणदास चोर', 'मिट्टी की गाड़ी', 'गाँव का नाम ससुराल' कितने ही नाटक गीत और नृत्य से सराबोर हैं, जिनमें प्रभावशाली अभिनय है, नाटकीयता है मनोरंजन सभी कुछ है।'[4] इन्होने अपने नाटकों में छत्तीसगढ़ के लोक तत्वों का खूब उपयोग किया। इनके नाटकों में एक और ख़ास बात देखने को मिली, कि छत्तीसगढ़ के लोक कलाकारों से भी इन्होने अपने नाटकों में अभिनय करवाया, या यूँ कहें कि इनके नाटकों की ख़ासियत ही उन लोक कलाकारों का सहज और सरल अभिनय था तो ग़लत न होगा। हबीब तनवीर अपने नाटकों में स्वयं भी अभिनय करते थे। 'चरनदास चोर' में हवलदार, 'आगरा बाज़ार' में पतंगवाला, 'माटी की गाड़ी' में शकार उनके द्वारा निभाये गये प्रमुख किरदार हैं। उन्होने छत्तीसगढ़ के लोक कलाकारों को शहरी रंगमंच से जोड़ कर, उन्हे जीविका के साधन भी उपलब्ध कराये। हबीब तनवीर के संबंध में रंग समीक्षक नेमीचन्द्र जैन ने कहा है कि 'पारंपरिक और लोक कलाओं को समकालीन रंगकर्म का अनिवार्य और अटूट हिस्सा बनाने की पहल करने वालों में हबीब तनवीर अग्रणी है।'[5] इनके नाटक 'आगरा बाज़ार' और 'चरनदास चोर' में लोक कलाओं का प्रयोग, अन्य रंगकर्मियों के लिये प्रेरणा बना।

नाट्यधर्मी नाटकों के दर्शक बंद वातानुकूलित प्रेक्षागृह में बैठ कर मात्र एक या देढ़ घंटे में ही बेचैन हो उठते हैं और नाटक के ख़तम होने की प्रतीक्षा करने लगते हैं, जबकि लोकधर्मी नाटकों के दर्शक खुले आकाश या पंडाल के नीचे घण्टों अपनी जगह से नहीं हिलते और नाटक को तल्लीनता से देखते हैं। जाहिर सी बात है कि लोकधर्मी और नाट्यधर्मी दोनों प्रदर्शन के स्तर पर अलग–अलग विधा हैं, क्योंकि दोनों के आधारभूत तत्वों–

कथ्य, निर्देशक, अभिनेता की शैली अलग है, परन्तु दोनों एक दूसरे के सम्पर्क में किसी न किसी स्थान पर अवश्य आती रहती हैं। आधुनिक मंच पर लोक कलाओं का उपयोग इस बात का प्रमाण है। अब तो लोक नाट्य के प्रस्तुतिकरण में भी आधुनिक रंगमंच की तकनीकों को अपनाया जा रहा है। बदलते परिवेश को देखते हुए ये आवश्यक भी है। महानगरीय जीवन कितना भी आधुनिक और व्यस्त हो जाये परन्तु अपनी लोक संस्कृति के प्रति प्रेम मनुष्य के जीवन में सदैव रहेगा। इसी कारण नाटकों में लोक तत्वों के उपयोग से जो नाट्य प्रस्तुतियाँ तैयार की गई वो अधिकांशतः सफ़ल रही और दर्शकों ने उसे बार–बार देखा भी। यदि इस बात पर ग़ौर करे कि कौन से लोक नाट्य को दिल्ली के नाटकों में सबसे ज़्यादा इस्तेमाल किया गया, तो उत्तर प्रदेश की नौटंकी का नाम पहले आता है। नाटकों में पारम्परिक एवं लोक नाट्यों के उपयोग की शुरूआत होने के बाद जहाँ कुछ निर्देशकों ने नाटकों के कथ्य को लोक तत्वों के अनुसार संपादित कर दुबारा आलेखित करवाया, वहीं कुछ लेखकों ने भी अपने आलेखों की रचना लोक तत्वों को ध्यान में रख कर भी की। सन् 1974 में सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ने नौटंकी शैली में 'बकरी' नाटक को लिखा, जोकि एक राजनीतिक व्यंग्य है। नौटंकी के दोहो, चौबोलो, बहरेतबील के आधार पर नाटक में गीतों की रचना की गई है। इसका मंचन 1973 में ज्योति देशपांडे ने राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय रंगमंडल के अभिनेताओं के साथ किया। इस नाटक के रचना विधान की विशेषता ये है कि इसके लिये किसी बंद प्रेक्षागृह की आवश्यकता नहीं है। बकरी नाटक का दूसरा प्रदर्शन कविता नागपाल के निर्देशन में जन नाट्यमंच संस्था के कलाकारों ने दिल्ली के अलग–अलग स्थानों पर नुक्कड़ नाटक शैली में किया। नाटकों में हास्य, गीत–संगीत, शेरो–शायरी, नृत्य से सज्जित लोक नाट्य नौटंकी को दर्शकों ने खूब सराहा। नौटंकी के तत्वों को लेकर विदेशी नाटकों के हिन्दी में अनुदित आलेखों को भी दर्शकों ने खूब पसन्द किया।

हिन्दी के प्रसिद्ध नाटककार मुद्राराक्षस ने रूसी हास्य नाटक 'द इंस्पेक्टर जनरल' (निकोलाई गोगोल) को नौटंकी शैली में अनुदित किया। नाटक का नाम रखा 'आला अफसर'। दिल्ली में 1977 में कार्तिक अवस्थी ने अपनी रंग–संस्था अवध थियेटर के साथ 'आला अफसर' का मंचन किया। इस नाटक को देश के कई नाट्य दलों ने खूब खेला। हास्य नाटक को लोक तत्वों के समायोजन के साथ मंच पर देखना दर्शकगण अधिक पसन्द करते हैं। दिल्ली में सन् 1978 में ब0 व0 कारन्त ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटक 'अंधेर नगरी चौपट राजा' को नौटंकी के तत्वों को लेकर प्रस्तुत किया। सन् 1996 में निर्देशक बृजमोहन शाह ने नाग बोडस द्वारा लिखित हिन्दी नाटक 'थैंकू बाबा लोचन दास' (नर –नारी) को नौटंकी शैली में मंचित किया। इस नाटक की कहानी भी लोक कथा के समान ही है। इसीलिये नौटंकी शैली इस नाटक के अधिक अनुकूल है।

नाग बोडस के दूसरे नाटक 'खबसूरत बहू' में निर्देशक रंजीत कपूर ने लोक गीतों का अच्छा उपयोग कर, नाटक में लोक तत्वों की खुशबू पैदा की। विहार के निर्देशक सतीश आनंद ने दिल्ली कें श्री राम कला केन्द्र रंगमंडल के साथ 'डॉकू' नाटक का मंचन नौटंकी शैली में किया। हम चाहें कितने भी आधुनिक और शहरी क्यों न हो जाये मगर हमारी जड़े तो गाँव में ही है। ये बात उस समय स्वतः सामने आ जाती है जब हम लोक नाट्य से सजी किसी प्रस्तुति को दिल से स्वीकार करते हैं। भानू भारती ने सन् 1974 में उत्तर भारत की लोक शैली ख्याल में मणि मधुकर के नाटक 'रसगंधर्व' का मंचन किया, तो सन् 1988 में एम0 के0 रैना ने भी श्री राम कला केन्द्र रंगमंडल के साथ ख्याल शैली में ही इसको प्रस्तुत किया। सन् 2010 में लखनऊ से दिल्ली आये रंगनिर्देशक राज बिसारिया ने शेक्सपियर द्वारा लिखित नाटक ओथैलों को नौटंकी शैली में दिल्ली में मंचित किया। इसके लिये सबसे पहले उन्होने राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की प्रवक्ता त्रिपुरारी शर्मा से ओथैलों का हिन्दी अनुवाद नौटंकी शैली में करवाया, इसके बाद उन्होने इसका मंचन किया। इस तरह के नाट्यालेखों ने रंगमंच और निर्देशकों के लिए नये आयामों, सम्भावनाओं की तलाश की और नयी गति दी।

हिन्दी रंगमंच के इस दौर को रंगमंच का स्वर्णिम दौर कहा जाता है क्योकि इस दौर में रंग निर्देशकों ने अपनी पारम्परिक शैली एवं लोक कलाओं का अथवा उनके तत्वों का नाटकों में उपयोग किया। नाट्य धर्मी और लोक धर्मी परम्पम्परायें कहीं न कही किसी जगह एक दूसरे के सम्पर्क में अवश्य आती है। उनके उचित मिश्रण से जब भी कोई प्रस्तुति तैयार की जाती है तो वो दर्शकों के लिये एक नया अनुभव अवश्य होता है। दर्शक प्रेक्षागृहों में मनोरंजन की चाह भी रखता है यदि उसके समक्ष एक ऐसा नाटक प्रस्तुत किया जाये जो गीत, संगीत, नृत्य के उचित मिश्रण से बना हो तो दर्शक उसे सहज ही स्वीकार कर लेता है। नाटकों में रसों की यदि बात की जाये तो दर्शक हमेशा से त्रासदी की अपेक्षा हास्य को अधिक प्राथमिकता देते हैं। आम जीवन में आजकल इतना तनाव और चिंताये, परेशानियाँ है कि व्यक्ति कुछ पल, इन सब से हट कर सुकूल और चैन के गुजारना चाहता है। ऐसे में वह हास्य या लोक नाटकों को देखना अधिक पसन्द करता है, बनिस्पत दुख और समस्याओं भरे कथ्य को सम्प्रेषित करने वाले नाटकों से। रंगमंच के क्षेत्र में हुए इन–नये प्रयोगों ने रंगमंच को हर बार एक नयी शैली से जोड़ा।

निष्कर्ष

दिल्ली की ऐसी रंगप्रस्तुतियाँ जिनमें पारम्परिक एवं लोक शैलियों का या उनके तत्वों का उपयोग किया गया, का गहनता से अध्ययन किया गया। जिसमें पाया गया कि नाट्यधर्मी और लोकधर्मी कलाओं के मिश्रण से तैयार प्रस्तुतियाँ दर्शकों को अधिक आकर्षित करती हैं। परन्तु प्रत्येक लिखित आलेख की अपनी एक संरचना होती है, प्रत्येक नाटक मे पारंपरिक या लोक शैली का उपयोग संभव नहीं है। नाटक की रचना के अनुसार ही संबंधित पारंपरिक या लोक शैली का उपयोग सार्थक सिद्ध होता है, अन्यथा प्रस्तुति बहुत ही असंगत जान पड़ेगी। आज के इस आधुनिक युग में लोक कलायें धीरे–धीरे विलुप्त होती जा रही हैं, रंगमंच में उनका उपयोग उन्हे आम जन के

बीच अपनी लोकप्रियता बनाये रखने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है।

अंत टिप्पणी

1. *नाट्यशास्त्र, भरतमुनि, प्रथम अध्याय, श्लोक 17*
2. *रंग प्रसंग जनवरी– मार्च 2010, हिन्दी रंगमंच पर कुछ असंगत नाट्स, अशोक वाजपेई, पृष्ठ 21,*
3. *दुश्य अदृश्य, नेमीन्द्र जैन, पृष्ठ 79*
4. *रंग प्रसंग, जनवरी–जून 1999, पृष्ठ 67*
5. *तीसरा पाठ, नेमीचन्द्र जैन, लोकनाट्य और समकालीन रंगमंच, पृष्ठ 25*